लोकसभा चुनाव 2024: विपक्षी एकता के लिए एक नजरिया

प्रेम सिंह

1

यह लेख मेरे पिछले तीन लेखों - 'तीसरे मोर्चे की प्रासंगिकता' (मई 2014), 'लोकसभा चुनाव 2019: विपक्षी एकता के लिए एक नजरिया - एक' (जून 2018), 'लोकसभा चुनाव 2019: विपक्षी एकता के लिए एक नजरिया - दो' (अप्रैल 2019) - की अगली कड़ी है। इनके अलावा 'विपक्षी गठबंधन की गांठें और मुसलमान' (अक्तूबर 2018) लेख भी इनके साथ देखा जा सकता है। सभी लेखों के लिंक अंत में दिए गए हैं।

मेरा मानना था कि के लोकसभा चुनाव 2014 में कांग्रेस और भाजपा से अलग राजनीति की तीसरी शक्ति कही जाने वाली पार्टियों का - तीसरा मोर्चा, राष्ट्रीय मोर्चा या किसी अन्य नाम से - एक स्वतंत्र गठबंधन होना चाहिए। चुनाव-पूर्व एक तीसरे मोर्चे के निर्माण को लेकर कुछ गंभीर प्रयास भी हुए थे। अगर वे प्रयास सफल होते तो कम से कम भारतीय राजनीति का वैसा बहुआयामी पतन नहीं होता जो हुआ है। लोकसभा चुनाव 2019 में भी मेरी यही मान्यता थी। और अब लोकसभा चुनाव 2024 में भी यही मान्यता है। मैं अपने कुछ साथियों के साथ होने वाली राजनीतिक चर्चा में यह कहता रहा हूं कि लोकसभा चुनाव 2024 में विपक्ष की कांग्रेसेतर पार्टियों का एक मोर्चा बने, उसका साझा न्यूनतम कार्यक्रम (कॉमन मिनिमम प्रोग्राम) जनता के सामने रखा जाए, और चुनाव के पहले प्रधानममंत्री पद का उम्मीदवार घोषित किया जाए। मेरी राय में बंगाल की मुख्यमंत्री ममता बनर्जी को मोर्चे के प्रधानमंत्री पद का उम्मीदवार बनाया जा सकता है। उनके साथ दक्षिण और उत्तर भारत से दो उप-प्रधानमंत्रियों का प्रावधान किया जाए। कांग्रेस की भाजपा से जहां सीधी टक्कर है, वहां मोर्चे को अपना उम्मीदवार नहीं उतारना चाहिए। कांग्रेस को भी मोर्चे के जनाधार वाली पार्टियों के उम्मीदवारों के खिलाफ अपना उम्मीदवार खड़ा करने से भरसक बचना चाहिए। जहां बात नहीं बन पाती, उन इक्का-दुक्का सीटों पर 'फ्रेंडली फाइट' हो सकती है।

इसके साथ कांग्रेस को चुनावों से पहले यह घोषणा करनी चाहिए कि मोर्चे की जीत की स्थिति में वह बाहर से मोर्चे की सरकार को पूरे 5 साल तक समर्थन देगी। वह चाहे तो मोर्चे के नेतृत्व में सरकार में शामिल भी हो सकती है। इस चुनाव और उसके बाद अगले 5 सालों में राष्ट्रीय पार्टी के रूप में कांग्रेस की स्थिति सुधरती है तो 2029 के चुनाव में मोर्चे को उसकी सरकार का साथ देने का वादा करना चाहिए। मेरा यह भी मानना रहा है कि मोर्चे का गठन और अस्तित्व

केवल लोकसभा चुनाव 2024 तक सीमित नहीं होना चाहिए। लोकसभा चुनाव 2024 में मोर्चे कि हार की स्थिति में उसके कार्यक्रम और संगठन का काम निरंतर जारी रहना चाहिए।

ऐसा होने से भारतीय राजनीति के परिदृश्य में केंद्रीय स्तर पर त्रिकोणीय राजनीति को मान्यता मिलती जाएगी। यह देश की विविधता और संघीय ढांचे ((फेडरल स्ट्रक्चर) के हित में होगा। भारत में सामाजिक-सांस्कृतिक-भौगोलिक विविधिता और संवैधानिक संघवाद (फेडरलिज़्म) की सार्थकता को चरितार्थ करने के लिए भारतीय राजनीति में तीसरी शक्ति पार्टियों की भूमिका की अहमियत को समझा जाना एक जरूरी कार्यभार है, जिसे नेताओं और राजनीतिक पंडितों को करना चाहिए। यह सही है कि तीसरी शक्ति पार्टियां, चाहे किसी भी दबाव (अर्ज) में बनी और ताकतवर हुई हों, मसलन क्षेत्रीय आकांक्षाओं एवं सामाजिक न्याय की पूर्ति की इच्छा के चलते, प्राय: व्यक्तिवाद/परिवारवाद के खोल में कैद होकर रह गईं हैं। उनमें आंतरिक लोकतंत्र भी नहीं होता है। राजनैतिक चिंतन/विमर्श में कोशिश की जानी चाहिए कि तीसरी शक्ति पार्टियों की इस नकारात्मक प्रवृत्ति में बदलाव आए और संवैधानिक विचारधारा के आधार पर उनका एक अलग राजनीतिक ब्लॉक अस्तित्व में रहे। ऐसा न होने की स्थिति में वे अवसरवादी रवैया अपना कर उग्र सांप्रदायिक भाजपा और नरम सांप्रदायिक कांग्रेस के साथ आती-जाती रहेंगी। और सारा देश बहुसंख्यक सांप्रदायिकता के रंग में रंगता चला जाएगा। दूसरी तरफ देश के अल्पसंख्यक समुदायों में सांप्रदायिकता का जोर बढ़ेगा।

लालकृष्ण आडवाणी और डॉक्टर मनमोहन सिंह दोनों ने यह सुझाव रखा था कि भारत में केवल दो राजनीतिक पार्टियां - कांग्रेस और भाजपा - रहनी चाहिए; अन्य सभी पार्टियों को इन दो पार्टियों में से किसी एक में अपना विलय कर देना चाहिए। दोनों वरिष्ठ नेताओं की यह सलाह देश में निर्णायक रूप से नवउदारवादी आर्थिक नीतियां लागू होने के बाद की है। यानि कांग्रेस और भाजपा ने उदारीकरण-निजीकरण का रास्ता अपना लिया है, तो अन्य राजनीतिक पार्टियों के लिए किसी अलग रास्ते की न जरूरत है, न गुंजाइश। ध्यान किया जा सकता है कि दोनों ही नेता और उनकी पार्टियां शायद यह मान कर चल रहे थे कि संविधान में निहित समाजवाद के मूल्य को त्याग देने के बावजूद राजनीति में धर्मनिरपेक्षता का मूल्य बना रहेगा। आडवाणी ने भारतीय राज्य के धर्मनिरपेक्ष स्वरूप से सीधे (आउटराइट) इनकार नहीं किया था; उन दिनों वे कांग्रेस और अन्य पार्टियों की “छद्म” धर्मनिरपेक्षता के बरक्स “सकारात्मक” धर्मनिरपेक्षता की बात करते थे। पाकिस्तान में मोहम्मद अली जिन्ना को धर्मनिरपेक्ष नेता बताने के “अपराध” में उन्हें पार्टी के अध्यक्ष पद से इस्तीफा देना पड़ा था। तब से गंगा में काफी पानी बह चुका है। अब न वे राम रहे, न वह अयोध्या! राम-मंदिर निर्माण के लिए निकाली गई रथ-यात्रा में आडवाणी के सारथी रहे नरेंद्र मोदी, और आरएसएस प्रमुख मोहन भागवत ने कारपोरेट घरानों

और भारत सहित दुनिया में फैली बाजारवादी शक्तियों के आगे नतमस्तक होकर राजनीति से संवैधानिक धर्मनिरपेक्षता का टंटा ही खत्म कर दिया है। कहा जाता है सच्चा चेला वही होता है जो गुरु की दुविधा को भी मिटा दे। "राम-रक्षक" आडवाणी की दुविधा भी नरेंद्र मोदी के देश का प्रधानमंत्री और अयोध्या में "भव्य" राम-मंदिर बनने के साथ मिट गई होगी! वे खुश भी होंगे कि उनके चेले ने सब अच्छी तरह सम्हाल लिया है; उसी के हाथों मंदिर का उद्घाटन हो रहा है; उद्घाटन महोत्सव से दूर बैठे उन्हें खुशी-मिश्रित आश्चर्य भी हो रहा होगा कि जिसे वे लोकसभा चुनाव 2004 में "शाइनिंग इंडिया" कह रहे थे वह तो जगमगाता "हिंदू-इंडिया" है!!

बहरहाल, देश के राजनीतिक परिदृश्य में तीसरे मोर्चे की उपस्थिति से कारपोरेट-सांप्रदायिक गठजोड़ की राजनीति की तेज रफ्तार पर कुछ ब्रेक लगता रहेगा। आम आदमी पार्टी (आप) का इरादा और योजना भविष्य में कांग्रेस को प्रतिस्थापित (रिप्लेस) करंने की है। कांग्रेस नेतृत्व ने खुद पहले दिल्ली और उसके बाद पंजाब आप को सौंप कर उसका हौसला बढ़ा दिया है। राजनीति में विचारधारा को नहीं मानने वाली आप कारपोरेट-सांप्रदायिक गठजोड़ के मामले में भाजपा की सच्ची लघु कॉपी है। जबकि कांग्रेस चाहे भी तो अपनी नेहरू-युगीन विरासत के चलते भाजपा की सच्ची कॉपी नहीं बन सकती। यही कारण है, नरेंद्र मोदी और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ (आरएसएस) कांग्रेस को पहले निशाने पर ले कर चलते हैं। ताकि तीसरे मोर्चे का निर्माण और भूमिका कभी भी गंभीर राजनीतिक चर्चा का विषय नहीं बन पाए।

2

अगर लोकसभा चुनाव 2019 विचारधारा के दावों पर हारा जाता, तो 2024 में उसे जीता भी जा सकता था। लेकिन, दुर्भाग्य से कारपोरेट-कम्यूनल गठजोड़ की राजनीति के युग में मुख्यधारा पार्टियों में विचारधारा के प्रति गंभीरता नहीं मिलती। स्थिति और खराब हो जाती है जब ज्यादातर जागरूक बुद्धिजीवी और नागरिक समाज भी राजनीति में विचारधारा की विदाई का सहयोगी बन जाता है। या निरपेक्ष तटस्थ भाव से सब होते देखता है। राजनीति में सक्रिय कतिपय प्रगतिशील संगठन/समूह विचारधारात्मक खोखलेपन को भरने के लिए प्रतीक-पुरुषों के चित्रों, वक्तव्यों, नारों, जयंती समारोहों, पुण्यतिथि समारोहों आदि का सहारा लेते हैं। वे समझ नहीं पाते कि कारपोरेट-कम्यूनल गठजोड़ ने प्रतीक-पुरुषों को अपना बंधक बना लिया है।

संविधान की विचारधारा से गुजरते हुए ज्यादा प्रगतिशील/परिवर्तनवादी विचारधारा की तरफ बढ़ा जा सकता था। लेकिन पिछले तीन दशकों से संविधान की विचारधारा ही पनाह मांगती घूमती है। राष्ट्रीय राजनीतिक जीवन में संविधान की विचारधारा के प्रति निष्ठा की बात करने पर भी आप पर "शुद्धतावादी" होने का ठप्पा लगा दिया जाएगा। दरअसल, वर्तमान माहौल में

विचारधारा पर चर्चा एक अप्रिय प्रसंग है। लोग नाराज हो जाते हैं। जो लोग फासीवादी ताकतों के हाथों होने वाले लोकतांत्रिक संस्थाओं और मूल्यों के हनन पर दिन-रात चिंता व्यक्त करते हैं, एक बार भी 1991 में किये गए संविधान की मूल आत्मा के हनन पर सवाल नहीं उठाते। राहुल गांधी कहते हैं कि वे निजीकरण के खिलाफ नहीं, एक-दो व्यापारिक घरानों को सारी सुविधाएं देने के खिलाफ हैं। यानि देश की दौलत और संसाधन सभी बड़े व्यापारिक घरानों में बंटने चाहिएं; छोटे-मझोले व्यापारियों का उन पर कोई में हक नहीं बनता। राहुल गांधी जब कहते हैं कि विचारधारा केवल कांग्रेस के पास है; और उनका जवाब सीताराम येचुरी यह कह कर देते हैं कि कांग्रेस नरम हिंदुत्व की लाइन पर चलती है, तो स्पष्ट हो जाता है कि भारत का कम्युनिस्ट ब्लॉक भी समानाधिकारवादी (इगेलीटेरियन) विचारधारा की सीधे बात करने से बचता है। अलबत्ता, पूंजीवाद की बात वह खूब करता है। इस हद तक कि "केजरीवाल क्रांति" को उसने ठोंक कर "लाल सलाम" बजाया।

ऐसा भी नहीं है कि नई पीढ़ी के कम्युनिस्टों में संभावना बनी हुई हो। इस ब्लॉक की सबसे "गरम" पार्टी की छात्र-युवा इकाई ने छात्र राजनीति में आम आदमी पार्टी की छात्र इकाई के साथ गठजोड़ बना कर छात्र-राजनीति में भी विचारधारा के अंत की घोषणा कर दी। कम्युनिस्ट साथी इस आलोचना को अन्यथा न लें। 1977 में सोशलिस्ट पार्टी के जनता पार्टी में विलय, जो दरअसल देश के राजनीतिक परिदृश्य से सोशलिस्ट पार्टी का विलोप सिद्ध हुआ, के बाद पार्टी संगठन, मजदूर संगठन, किसान संगठन, छात्र संगठन और सांस्कृतिक संगठनों से लैस कम्युनिस्ट ब्लॉक से ही कारपोरेट के बरक्स समाजवादी नीतियों की दृढ़ और सतत वकालत की आशा शेष रह गई थी। अन्य राजनीतिक पार्टियों के मुकाबले संवैधानिक धर्मनिरपेक्षता के प्रति निष्ठा भी कम्युनिस्ट ब्लॉक में ज्यादा है। भारत के कम्युनिस्ट आंदोलन के पास आज खोने के लिए कुछ भी नहीं है। अस्तित्व का संकट स्वतंत्र और नई पहल को जन्म दे सकता है।

विचारधारा के संदर्भ में भारत के सोशलिस्ट ब्लॉक की तरफ देखने पर एक मिला-जुला (मिक्स्ड) परिदृश्य नजर आता है। जबकि, 1991 में थोपी गईं नई आर्थिक नीतियों के खिलाफ निर्णायक और तर्कपूर्ण प्रतिरोध इसी ब्लॉक की तरफ से हुआ था। मुख्यधारा राजनीति में चंद्रशेखर और मुख्यधारा राजनीति के बाहर किशन पटनायक ने बिना किसी झिझक और देरी के देश की राजनीतिक और बौद्धिक जमात को उन नीतियों के तात्कालिक और दूरगामी दुष्परिणामों के बारे में आगाह किया था। एक बार संसद में जब मनमोहन सिंह नई आर्थिक नीतियों के पक्ष में जवाहरलाल नेहरू को उद्धृत करने लगे तो चंद्रशेखर ने उन्हें टोका, "बराए मेहरबानी इन नीतियों के पक्ष में नेहरू को मत उद्धृत कीजिए।" समाजवादियों ने ही नवसाम्राज्यवादी गुलामी के खिलाफ वैकल्पिक राजनीति के निर्माण की जरूरत रेखांकित की, और उस दिशा में प्रयास किए।

हालांकि, यह भी सच है कि तरह-तरह के जनता दल चलाने वाले समाजवादियों को संकट का न तब बोध हुआ था, न अब है। ऐसे समाजवादियों ने व्यक्तिगत और परिवार की सत्ता मजबूत करने पर अपना ध्यान केंद्रित रखा, और आज भी वही कर रहे हैं। प्रछन्न नवउदारवादी अन्य समूहों की तरह सोशलिस्ट ब्लॉक में भी रहे हैं। प्रछन्न नवउदारवादियों की यह खूबी होती है कि वे सब जगह अपनी घुसपैठ बना लेते हैं। अन्ना हजारे और अरविंद केजरीवाल के नेतृत्व में उन्होंने वैकल्पिक राजनीति के प्रयासों में पलीता लगा दिया। आजकल उनमें से कुछ शिक्षा के एक सौदागर की निजी यूनिवर्सिटी में बैठ कर कभी गृहमंत्री राजनाथ सिंह, कभी (पूर्व)राष्ट्रपति रामनाथ कोविंद, कभी जम्मू-कश्मीर के राज्यपाल मनोज सिन्हा और तरह-तरह के स्थानीय भाजपा/कांग्रेसी नेताओं के साथ बैठ कर डॉक्टर राममनोहर लोहिया की तिजारत करते हैं। जिस दिन खुद नरेंद्र मोदी 'लोहिया स्मृति व्याख्यान' देने पहुंच जाएंगे, उनकी साधना सफल हो जाएगी! उनमें से कुछ फिर से कांग्रेस की सेवा में लौट गए हैं।

भारत की वर्तमान राजनीति में विचारधारा की बात को कुछ और आगे बढ़ाते हैं। जो प्रगतिशील और धर्मनिरपेक्ष बुद्धिजीवी/ऐक्टिविस्ट नवउदारवादी नीतियों की ओर से इसलिए मुंह फेर कर चलते रहे हैं कि पहले सांप्रदायिकता से निपटना जरूरी है, यह देख सकते हैं कि देश की राजनीति ही नहीं, पूरा समाज सांप्रदायिक फासीवाद की गिरफ्त में आ चुका है। वे सांप्रदायिकता के विरुद्ध लड़ाई अपने नवउदारवाद के समर्थक बुद्धिजीवियों के साथ मिल कर लड़ते हैं। उनमें ख्याति-प्राप्त वकील, न्यायधीश, अर्थशास्त्री, समाजशास्त्री, लेखक, एनजीओ सरगना, प्रोफेसर, पत्रकार आदि शामिल होते हैं। उनके पास धन, रुतबा, बड़े अंतर्राष्ट्रीय पुरस्कार होते हैं। मान लिया जा सकता है कि प्रगतिशील और धर्मनिरपेक्ष बुद्धिजीवियों को लगता हो कि एक दिन उनके नवउदारवाद के समर्थक साथी अपने पक्ष (स्टैन्ड) पर पुनर्विचार करेंगे; और संविधान के नीति-निर्देशक तत्वों की रोशनी में आर्थिक नीतियां बनाने की हिमायत करेंगे। लेकिन वे देख सकते हैं कि तीन दशकों के बाद भी नवउदारवाद के समर्थकों में नवउदारवादी आर्थिक नीतियों के भयंकर दुष्परिणामों को लेकर कोई खेद नहीं है। वे आज भी "सुधारों" को तीव्रतर करने का आह्वान करते पाए जाते हैं।

प्रगतिशील और धर्मनिरपेक्ष बुद्धिजीवियों को किंचित भी खेद नहीं है कि उन्होंने 1991 में थोपी गई नई आर्थिक नीतियों के खिलाफ उठे देशव्यापी विरोध और वैकल्पिक राजनीति की आवाज को 'भ्रष्टाचार विरोधी आंदोलन' का हथियार चला कर नष्ट कर दिया था। विस्तार से बताने की जरूरत नहीं है कि वह आंदोलन खुद पूंजीवादी-सांप्रदायिक शक्तियों के गठजोड़ का भारत के संविधान और मेहनतकश आबादी के खिलाफ एक अचूक हथियार था। भारत का प्रगतिशील और धर्मनिरपेक्ष बौद्धिक वर्ग पिछले 10 सालों से ऊंचे स्वर में आजादी के मूल्यों, संविधान के मूल्यों

और लोकतांत्रिक संस्थाओं के विघटन की दुहाई दे रहा है। लेकिन उसकी बात कोई नहीं सुनता। क्योंकि अपने धतकर्मों पर वह किंचित भी खेद प्रकट करने को तैयार नहीं है। वह अपनी रचना "छोटे मोदी" को रिजर्व में रख कर एक बार फिर उसी "भ्रष्ट" कांग्रेस के साथ एकजुट हो गया है, जिसे 10 साल पहले उसने खत्म करने का जैसे बीड़ा उठा लिया था!

यहां एक बात पर और ध्यान दिया जा सकता है। राजनीतिक पार्टियों में जाति-आधारित जनगणना कराने का वादा करने की होड़ लगी है। नवउदारवाद के दरवाजे खोलने वाली कांग्रेस ने भी जाति-गणना के पक्ष में ऐलान कर दिया है; चुनाव जीतने में फायदा दिखेगा तो भाजपा भी पीछे नहीं रहेगी। सुना है देश को पिछड़ा प्रधानमंत्री और दलित तथा आदिवासी राष्ट्रपति देने वाला आरएसएस जाति-आधारित जनगणना के पक्ष में विचार कर रहा है। किसी भी राष्ट्र के समाज में कितनी सामाजिक-आर्थिक पहचानें निवास करती हैं, इसका आंकड़ा (डाटा) उपलब्ध होना ही चाहिए। कुछ हद तक यह काम होता भी रहा है, और सामाजिक पहचानों की राजनीति भी। सवाल है कि यह सब निगम भारत, जिसमें करीब 75 प्रतिशत दौलत करीब 10 प्रतिशत लोगों के पास इकट्ठा है, और नीचे के 50 प्रतिशत भारतीयों के हिस्से में 3 प्रतिशत दौलत आती है, की सत्ता और संपत्ति में हिस्सा सुनिश्चित करने के लिए है या संसाधनों और संपत्ति के समान बंटवारे के लिए? जाति-आधारित जनगणना को जातिवाद नहीं कहा जा सकता, लेकिन यह कहा जा सकता है कि जाति-आधारित गणना के दावेदार समाजवाद के पैरोकार नहीं हैं। यानि राजनीति में सामाजिक न्याय की विचारधारा भी उनका सच्चा सरोकार नहीं है।

देश में सरेआम बाजारवादी अर्थ-व्यवस्था और उसके एजेंटों का गुणगान और प्रचार-प्रसार चल रहा है। गोया भारत में कभी समानाधिकारवादी विचारधारा/आंदोलन रहे ही न हों। नागरिक-बोध से परिचालित भारतीयों का आधुनिक भारत नष्ट करके, धर्म और जातियों की पहचान पर आधारित "नया भारत" बनाया जा रहा है। एक शानदार स्वतंत्रता संग्राम पर लोलुपता, अंधविश्वास, झूठ और घृणा की चादर ढंक दी गई है। लेकिन विचारधारा पर गंभीर चर्चा नहीं होती। इसके लिए केवल राजनेता ही जिम्मेदार नहीं हैं। बुद्धिजीवियों की इसमें ज्यादा बड़ी भूमिका है। वे चाहे वामपंथी हों, या दक्षिणपंथी। बौद्धिक वर्ग द्वारा अंजाम दी गई समाज की अधोगति (डेकेडेंस) समाज को और ज्यादा अधोगति के गर्त में धकेलती है।

लोकसभा चुनाव 2024 में भाजपा का मुकाबला करने के लिए विपक्ष ने 'इंडिया' (इंडियन नेशनल डेवलपमेंटल इन्क्लूजिव अलाएंस) नाम से गठबंधन बनाया है। कांग्रेस से अलग मोर्चा बनाने कि संभावना अब नहीं लगती। 'इंडिया' गठबंधन के विवरण प्रेस में उपलब्ध हैं। इसलिए इस विषय पर ज्यादा कुछ लिखने की जरूरत नहीं है। अलबत्ता, यह देखा जा सकता है कि इस नवेले गठबंधन के ढांचे और संचालन का स्वरूप अभी तक तय नहीं हो पाया है। सीटों के बंटवारे का सवाल भी नहीं सुलझा है। कौन कितनी सीटें लड़ेगा, इस पर कांग्रेस समेत अलग-अलग क्षेत्रीय पार्टियों के अपने-अपने दावे सामने आते रहते हैं। गोया, लोकसभा चुनाव केवल 'इंडिया' गठबंधन में शामिल पार्टियों के नेताओं का निजी मामला हो। लोकतंत्र में यह हैरत की बात है कि गठबंधन भाजपा को अपदस्थ करने के लिए देशवासियों के वोट तो चाहता है, लेकिन उन्हें सोचने और निर्णय करने के लिए थोड़ा भी समय नहीं देना चाहता। चुनाव में 6 महीने भी नहीं बचे हैं, जनता के सामने गठबंधन के एक अटपटे नाम के सिवाय अभी तक कुछ भी स्पष्ट तौर पर नहीं पेश किया गया है। साझा न्यूनतम कार्यक्रम भी नहीं, जो गठबंधन के गठन की घोषणा के साथ सभी भारतीय भाषाओं में छप कर पूरे देश में वितरित हो जाना चाहिए था। भले ही गठबंधन में शामिल पार्टियों के अपने घोषणा-पत्र बाद में आते रहते। प्रधानमंत्री पद के उम्मीदवार के नाम पर लोगों के सामने केवल अटकलबाजियां परोसी जा रही हैं।

यह तो स्पष्ट है कि गठबंधन सत्ता में आने पर निजीकरण-उदारीकरण की अंधी नीतियों के चलते आर्थिक-शैक्षिक विकास की प्रक्रिया से बाहर खदेड़े जाने वाली विशाल आबादी के बहिष्करण (एक्सक्लूजन) को रोकने का वादा नहीं करना चाहता। कोई बात नहीं, लेकिन क्या विपक्ष लोगों में भाजपा को परास्त करने के विश्वास का माहौल भी नहीं पैदा करना चाहता? अभी तक तो 'इंडिया' गठबंधन के नेताओं में कोई सनातन धर्म को निपटाने में लगा है, कोई मनुवाद को, कोई रामायण को, कोई सरस्वती को; कोई हनुमान-भक्त बना घूम रहा है, कोई राम-भक्त, कोई शिव-भक्त। जैसे-जैसे मथुरा में शाही ईदगाह का मामला गरमाएगा, और वृंदावन में उज्जैन और बनारस जैसा कॉरीडोर बनेगा काफी कृष्ण-भक्त भी निकल आएंगे। ये नेता यह समझने को भी तैयार नहीं हैं कि उनके इन कारनामों से अल्पसंख्यक और भी असुरक्षित हो जाते हैं। इनसे कारपोरेट-सांप्रदायिक गठजोड़ को निपटाने की आशा तो क्या की जाए, फिलहाल यह भी नहीं लगता कि ये लोकसभा चुनाव में भाजपा को निपटा पाएंगे? जनता के सहयोग और समर्थन से गठबंधन को जीत मिल भी जाती है, तो सरकार की अस्थिरता का अंदेशा बना रहेगा।

इसलिए जितना भी समय चुनावों में बचा है उसका गंभीरता से उपयोग किया जाना चाहिए। लेकिन कांग्रेस फिर एक यात्रा का आयोजन करने जा रही है। अगर यह चुनावों के मद्देनजर कि

जाने वाली यात्रा है तो 'इंडिया' गठबंधन में शामिल सभी पार्टियां उसमें हिस्सेदारी क्यों नहीं करने जा रही हैं? इसका एक प्रभावी संदेश देशवासियों में जा सकता है। जो भी हो, 'इंडिया' के ढांचे और संचालन की औपचारिकताएं पूरी करने, गठबंधन सरकार का साझा न्यूनतम कार्यक्रम कार्यक्रम जारी करने और सीटों के बंटवारे की प्रक्रिया को जल्दी से जल्दी पूरा किया जाना चाहिए। अगर गठबंधन पहले के नागरिक संशोधन कानून, श्रम एवं कृषि कानूनों और संसद के शीतकालीन सत्र में बिना समुचित बहस के पारित किये गए आपराधिक न्याय संबंधी तीन कानूनों तथा मुख्य चुनाव आयुक्त तथा अन्य चुनाव आयुक्तों की नियुक्ति से संबंधित कानूनों पर अपना नजरिया लोगों के सामने रखे, तो उसके अभियान में गंभीरता आएगी। मसलन, सरकार ने कृषि कानूनों को वापस लिया था, यह कहते हुए कि मौका आने पर उन्हें लागू किया जाएगा। गठबंधन यह बताए कि वह इन कृषि कानूनों का क्या करेगा? क्या वह सत्ता में आने पर भारत की खेती-किसानी के कारपोरेटीकरण का विरोध करेगा? इसी तरह से श्रम कानूनों, शिक्षा नीति आदि बहुत से विषयों पर स्थिति स्पष्ट की जानी चाहिए।

साथ ही 2017 में वित्त कानून में संशोधन करके की गई एलेक्टोरल बॉण्ड्स की मार्फत कारपोरेट फन्डिंग की व्यवस्था, जिसका 80 प्रतिशत से ज्यादा हिस्सा सत्तारूढ़ भाजपा को जा रहा है, को 'इंडिया' गठबंधन नकार दे। जीतने की स्थिति में लोकतंत्र के लिए नकारात्मक बताए जाने वाले इस कानून को बदलने का वादा करे। नई शिक्षा नीति 2020 की समीक्षा करने का वादा भी किया जाना चाहिए। साथ ही गैर-कानूनी गतिविधियां (रोकथाम) अधिनियम (यूएपीए), जो मुख्यत: आतंकी गतिविधियों में शामिल लोगों को चिन्हित करने और सजा देने के उद्देश्य से बनाया गया था, के तहत राजनीतिक द्वेष से जेलों में बंद किये गए नागरिकों को न्याय देने वादा भी। पुलिस समेत सभी जांच एजेंसियों को राजनीतिक और सरकारी दबाव से मुक्त रखने का वादा भी किया जाए। कहने की जरूरत नहीं कि साझा कार्यक्रम में रोजगार का मुद्दा प्रमुखता और गंभीरता से रखा जाए।

यहां एक संभावना पर और विचार किया जा सकता है। क्या 'इंडिया' गठबंधन के साथ लोकसभा चुनाव 2024 में जनता से 1977 जैसे करिश्मे की उम्मीद की जा सकती है? शायद नहीं। घोषित आपातकाल से लेकर अघोषित आपातकाल तक देश काफी बदल चुका है। वह "पुराना" भारत था, यह "नया भारत" है। पूरी पोलिटिकल, इंटलेक्चुअल और बिजनस क्लास ने मिल कर नागरिकों की स्वतंत्रता की चेतना को गुलामी की चेतना में बदल कर रख देने का अभियान छेड़ा हुआ है। दिमाग में हुए "गुलामी के छेद" को भरने के लिए धर्मों और जातियों पर गर्व करके छाती फुलाई जाती है या अपने-अपने प्रतीक-पुरुषों के पोस्टर लहराए जाते हैं। "आत्मनिर्भर", "विश्वगुरु", "नए भारत" में यूरोप-अमेरिका-ऑस्ट्रेलिया में बसने-पढ़ने की होड़ मची हुई है। वहीं

की तीसरे-चौथे दर्जे की टेक्नॉलॉजी उधार लेकर “डिजिटल”, “विकसित” और “महाशक्ति” भारत बनाया जा रहा है।

इस पूरी प्रक्रिया में सबसे बड़ी अपघटना (कैजुएलिटी) यह हुई है कि लोगों, खास कर मेहनतकश आबादी को स्वतंत्र नागरिक से खैरात पर जीने वाली प्रजा बना दिया गया है। नवउदारवाद की खुरचन खाने वाला मध्य-वर्ग भी “मुफ़्त की मधुशाला” लूटने में पीछे नहीं रहना चाहता। नए भारत के निर्माताओं को पीने के लिए घी मिलना चाहिए, भले ही देश का रोआं-रोआं कर्ज में डूबा हो। बल्कि वे विश्व बैंक या आईएमएफ द्वारा भारत पर लदे कर्ज की स्थिति बताने पर तरह-तरह के घुमावदार तर्क देते हैं। गरीबी और कुपोषण पर वैश्विक संस्थाओं के आंकड़ों को झूठा बताने में वे सरकारों के साथ खड़े होते हैं। उनमें जो इक्का-दुक्का लोग कभी-कभार यह कहते हैं कि राजनीति धर्म के आधार पर नहीं, लोगों के सामने दरपेश आर्थिक कठिनाइयों, रोजगार, शिक्षा, स्वास्थ्य जैसी समस्याओं के आधार पर की जानी चाहिए, वे भयानक आर्थिक विषमताएं पैदा करने वाली आर्थिक नीतियों को बदलने की बात नहीं करते। यदि उन्हें कहा जाए कि शिक्षा राज्य की जिम्मेदारी है, शिक्षा को मुनाफे का बाजार बनाने वाले निजी और विदेशी विश्वविद्यालय बंद होने चाहिएं तो वे आपको अजूबे की तरह देखेंगे।

एक बात और, सरकारी खजाने का अरबों रुपया खर्च करके मोदी अपनी छवि बनाते हैं। जो कसर रह जाती है उसे मोदी-विरोधी विपक्ष और नागरिक समाज एक्टिविस्ट पूरा कर देते हैं। उनके मोदी के जुमलों पर छोड़े गए चुटकुले मोदी के लिए खाद-पानी का काम करते हैं। वे कभी चुनाव के पहले ही मोदी की हार की घोषणा कर देते हैं, कभी दिन में कई बार ‘आएगा तो मोदी ही’ कहते हुए उसकी अपराजेयता से त्रस्त नजर आते हैं। उन्हें समझना चाहिए कि मोदी ज्यादातर विरोधियों से अपने प्रचारक का काम लिए जा रहे हैं। बेहतर होगा कि इस चुनाव में ‘इंडिया’ गठबंधन मोदी को कोसने का काम छोड़ कर लोगों को बताए कि इस चुनाव में सरकार इसलिए बदलनी है कि लोकतंत्र में सरकारें बदलती रहनी चाहिएं। भाजपा को 2014 में 31.34 प्रतिशत और 2019 में 37.04 प्रतिशत वोट मिले थे। 2014 में लोकतान्त्रिक गठबंधन (एनडीए) का वोट शेयर 38 और 2019 में 45 प्रतिशत था। यानि 2014 में करीब 70 प्रतिशत और 2019 में करीब 63 प्रतिशत मतदाताओं ने भाजपा को वोट नहीं दिया था। भाजपा नीत एनडीए को भी 2014 में करीब 62 और 2019 में करीब 55 प्रतिशत मतदाताओं ने वोट नहीं दिया था। विपक्ष भले ही इस वास्तविकता से सबक न लेता हो, आरएसएस/भाजपा लेते हैं। तभी सांप्रदायिकता फैलाने के साथ वे मोदी की छवि पर अरबों सरकारी रुपया खर्च करते हैं। कारपोरेट घरानों का धन तो है ही।
लिंक :

https://www.hastakshep.com/old/%E0%A4%AD%E0%A4%BE%E0%A4%9C%E0%A4%AA%E0%A4%BE-%E0%A4%95%E0%A4%BE-%E0%A4%AF%E0%A5%87-%E0%A4%A6%E0%A4%BE%E0%A4%82%E0%A4%B5-%E0%A4%95%E0%A4%BE%E0%A4%82%E0%A4%97%E0%A5%8D%E0%A4%B0%E0%A5%87%E0%A4%B8

https://countercurrents.org/2018/06/lok-sabha-elections-2019-a-perspective-for-opposition-unity/

https://countercurrents.org/2019/04/lok-sabha-elections-2019-a-perspective-for-opposition-unity-2/

https://agnialok.com/the-knots-of-the-opposition-alliance-and-the-muslims/

(समाजवादी आंदोलन से जुड़े लेखक दिल्ली विश्वविद्यालय के पूर्व शिक्षक और भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला के पूर्व फेलो हैं)